सूरदास

एक विश्लेषण

आकाशवाणी

प ब्लि के श न्स डि वी ज न

आकाशवाणी पुस्तकमाला

सूरदास

[एक विश्लेषण]

प्रभुदयाल मीतल
डा० धीरेन्द्र वर्मा
डा० बी० एन० भट्ट
डा० विजयेन्द्र स्नातक
डा० सत्येन्द्र

सत्यमेव जयते

पब्लिकेशन्स डिवीज़न
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली–८

द्वितीय संस्करण

कार्तिक-अग्रहायण १८८० (नवम्बर १९५८)

मूल्य ३५ नये पैसे

डायरेक्टर, पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित
तथा उप-प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, द्वारा फ़रीदाबाद में मुद्रित

दो शब्द

प्राचीन हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में खोजें जितनी अधिक होती जा रही हैं, और हिन्दी प्रान्तों के अन्तर्गत बोलियों का महत्व जितना बढ़ता जा रहा है, उसका क्षितिज भी उतना ही अधिक बढ़ता जा रहा है। इसलिए हिन्दी के प्राचीन साहित्य से जब कमोबेश केवल उत्तर प्रदेश की बोलियों के साहित्य का ही बोध होता था, तब से इस समय के शोध युग में मूल्यों का कुछ बदलना स्वाभाविक है। उदाहरणस्वरूप प्राचीन हिन्दी साहित्य के जो नवरत्न माने गए, उनमें विद्यापति जैसे कवि को स्थान नहीं मिला, फिर भी उनका प्रभाव बिहार के अतिरिक्त बंगाल, आसाम और उड़ीसा में भी रहा, यहां तक कि बंगाली उन्हें अपना आदिकवि मानते रहे।

पर प्राचीन साहित्य के तुलनात्मक मूल्यांकन में जो भी धारणा बदले, सूरदास का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत ही ऊंचा रहेगा। इसलिए यह आशा की जाती है कि उनके सम्बन्ध में हिन्दी के पांच अधिकारी विद्वानों की इन रेडियो वार्ताओं का स्वागत किया जाएगा। लेखकों के मत उन्हीं के समझे जाएं।

—सम्पादक

विषय सूची

: १ :

जीवन परिचय

प्रभुदयाल मीतल

हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य महात्मा सूरदास ने इस जगती तल पर प्रकट होकर साहित्य, संगीत और कला को अपूर्व प्रकाश प्रदान किया था, किन्तु आश्चर्य और खेद की बात है कि ऐसे महापुरुष का जीवन वृत्तान्त पूर्णतया ज्ञात नहीं है। अब से प्रायः २० वर्ष पूर्व तक सूरदास की अधिकांश जीवन घटनाएं अज्ञानांधकार से आच्छादित थीं। उनके जीवन की जो थोड़ी-बहुत बातें उस समय प्रकट थीं, उन पर भी बिल्वमंगल आदि अन्य सूरदासों की जीवन घटनाएं इस प्रकार छाई हुई थीं कि उनका वास्तविक जीवन वृत्तान्त अप्रामाणिकता के निविड़ अंधकार में कठिनता से दृष्टिगोचर होता था।

इधर कुछ वर्षों से सूर साहित्य का वज्ञानिक अध्ययन हो रहा है। इस प्रकार का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने सूरदास की रचनाओं के अन्तस्साक्ष्य एवं समकालीन और परवर्ती रचयिताओं के वहिर्साक्ष्य का विश्लेषण कर सूरदास के जीवन की अनेक घटनाएं निश्चित की हैं। इन विद्वानों की नवीनतम शोध के आधार पर सूरदास का जीवन परिचय उपस्थित किया जा रहा है।

अब से ४७४ वर्ष पूर्व सं० १५३५ की वैशाख शु० ५ को सूरदास का जन्म हुआ था। उनका जन्मस्थान वल्लभगढ़ का निकटवर्ती सीही नामक ग्राम है। वहां के एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के वे चतुर्थ पुत्र थे। उनकी वंश-परम्परा, उनके वंशधर, माता-पिता और कुटुंबीजनों का विशेष वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है, यहां तक कि उनके माता-पिता और भ्राताओं के नाम तक अज्ञात हैं। कुछ लेखकों ने अकबर बादशाह के दरबारी गायक बाबा रामदास को सूरदास का पिता बतलाया है, किन्तु उनका यह मत अब अप्रामाणिक सिद्ध हो गया है।

सूरदास नेत्रविहीन थे, यह निर्विवाद है। किन्तु वे जन्मांध थे अथवा बाद में अंधे हुए, यह विवादग्रस्त है। सूरदास के काव्य में दृश्य जगत का ऐसा यथार्थ और सर्वांगपूर्ण वर्णन मिलता है, जैसा आंखों से देखे बिना किसी कवि द्वारा सम्भव ज्ञात नहीं होता। इसीलिए आजकल के अनेक विद्वान सूरदास की जन्मांधता पर

विश्वास नहीं करते, अन्यथा उनके पास जन्मांधता के विरुद्ध कोई ठोस प्रमाण नहीं है। गो० हरिराय जी, जिन्होंने सर्वप्रथम सूरदास का विस्तृत वृत्तान्त लिखा है, सूरदास को जन्मांध मानते हैं।

हरिराय जी के कथन से ज्ञात होता है कि घर की दरिद्रता के कारण जन्मांध सूरदास अपने माता-पिता के लिए भारस्वरूप समझे जाते थे, अतः स्वाभाविक मातृ-पितृ स्नेह से भी वे वंचित रह। घर वालों के व्यवहार से असंतुष्ट होकर वे अपनी बाल्यावस्था में घर से निकल पड़े, और लाठी टेकते हुए सीही के निकटवर्ती एक अन्य ग्राम में आकर रहने लगे। वहां के जमींदार ने उनके रहने के लिए एक तालाब के किनारे झोंपड़ी बनवा दी और उनके खान-पान की भी यथोचित व्यवस्था कर दी।

कहते हैं, उस समय सूरदास भविष्य-कथन किया करते थे। लोगों के पूछने पर वे जो शकुन बतलाते थे, वह सत्य होता था। इसके कारण आस-पास के ग्रामों से अनेक व्यक्ति उनके पास आने लगे, और उनको धन-धान्य एवं वस्त्राभूषणों की भेंट देने लगे। इस प्रकार उनके पास यथेष्ट वैभव हो गया। झोंपड़ी के स्थान पर अच्छा मकान बन गया और सुख-सुविधा की सब सामग्री एकत्र हो गई।

पूर्व संस्कार, जन्मजात प्रतिभा, गुणियों के सत्संग और निजी अभ्यास के कारण सूरदास छोटी आयु में ही विभिन्न विद्याओं और कलाओं के ज्ञाता हो गए थे। उनको गायन-वादन में विशेष रुचि थी। उनका कंठस्वर अत्यन्त मधुर था और वे संगीत कला में दक्ष थे, अतः उनका गायन इतना प्रभावोत्पादक होता था कि सुनने वाले मंत्रमुग्ध से हो जाते थे। वे उस समय विनय-दीनता और विरह के पद बनाकर गाया करते थे।

उस स्थान पर रहते हुए एक दिन उनके हृदय में अकस्मात् यह विचार उठा कि मैं भगवद्भजन के लिए विरक्त होकर घर से निकला था, किन्तु यहां पर तो माया के चंगुल में फंस गया। इस विचार के आते ही उनको बड़ी आत्म ग्लानि हुई, और वे अपना समस्त वैभव वहीं पर छोड़कर व्रज की ओर चल दिए। उस समय उनकी आयु केवल १८ वर्ष की थी। इस प्रकार सीही तथा उसके निकटवर्ती ग्राम में वे सं० १५५३ तक रहे।

वहां से चलकर वे मथुरा पहुंचे, जहां पर उन्होंने कुछ समय तक विश्राम किया। पहले उनका विचार स्थायी रूप से मथुरा में रहने का था, किन्तु वहां की भीड़भाड़ और कोलाहल से उनको अशांति का अनुभव हुआ, अतः वे वहां से चलकर मथुरा-आगरा मार्ग पर स्थित गऊघाट नामक स्थान पर पहुंचे। वहां पर यमुना नदी के तट पर स्थित एक रमणीक और निर्जन स्थल पर उन्होंने

अपना डेरा डाला । उस स्थान पर वे प्रायः १२ वर्ष तक रहे। वहां पर रहते हुए भी वे विनय-दीनता और ज्ञान-वैराग्य के पद गाया करते थे । इस प्रकार के पद सूरदास की आरम्भिक रचना के हैं, जो सूरसागर के प्रथम एवं द्वितीय स्कंधों में मिलते हैं। उनके गायन और ज्ञान-वैराग्य विषयक उपदेश का लाभ प्राप्त करने के लिए अनेक व्यक्ति उनके पास आते थे और उनके सत्संग से अपना जीवन सफल करते थे । उस समय सूरदास 'स्वामी जी' कहलाते थे और अनेक व्यक्ति उनके शिष्य-सेवक हो गए थे ।

सं० १५६७ के लगभग पुष्टि सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य जी गऊघाट पर आए । उस समय वे अपने नवनिर्मित श्रीनाथ जी के मन्दिर की देख-भाल करने ब्रज के गोवर्धन स्थान को जा रहे थे ।

सूरदास ने वल्लभाचार्य जी की ख्याति सुन रखी थी । वे उनके दर्शनार्थ गए और उनके सम्मुख विनय-दीनता के कई पदों का गायन किया । वार्ता, भक्तमाल की टीका और मूल गुसाईं चरित से ज्ञात होता है कि एक बार सूरदास और तुलसीदास की भेंट भी हुई थी । यद्यपि सूरदास पूर्ववर्ती और तुलसीदास परवर्ती कवि हैं, तथापि कुछ समय तक हिन्दी साहित्याकाश के ये दोनों सूर्य-चन्द्र एक-दूसरे के समकालीन भी थ । उस समय सूरदास अति वृद्ध थे और अपने अधिकांश काव्य की रचना कर चुके थे, जबकि तुलसीदास युवा थे और उन्होंने अपनी काव्य-रचना का आरम्भ ही किया था। वार्ता और भक्तमाल की टीका में सूर-तुलसी मिलन का संवत नहीं दिया गया है, किन्तु मूल गुसाईं चरित में इस भेंट का संवत १६१६ लिखा गया है। इस सम्बन्ध के अन्तिम शोध से निश्चय हो चुका है कि मूल गुसाईं चरित की अन्य घटनाओं के समान सूर-तुलसी भेंट का संवत और तत्सम्बन्धी विवरण भी प्रामाणिक नहीं है। हमारे अनुसन्धान से ज्ञात हुआ है कि यह भेंट १६२९ में सूरदास के निवासस्थान पारसौली में हुई थी । उस समय तुलसीदास अपने छोटे भाई नन्ददास से मिलने के लिए ब्रज में आए थे वार्ता के प्रासंगिक विवरण से ज्ञात होता है कि सं० १६२० के पश्चात नन्ददास विरक्त होकर स्थायी रूप से गोवर्धन में रहने लगे थे । नन्ददास आरम्भ से ही सूरदास के कृपा-पात्र थे, अतः वे उनसे मिलने प्रायः पारसौली जाया करते थे । जब तुलसीदास गोवर्धन में नन्ददास के पास गए, तभी वे नन्ददास के साथ सूरदास से भी पारसौली में मिले थे। हिन्दी साहित्य के इन उभय संत महाकवियों की भेंट कितनी आनन्दप्रद और प्रेरणादायक रही होगी, इसका सहज में ही अनुमान हो सकता है। सूरदासकृत कृष्णलीला के पदों को सुनकर तुलसीदास अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने बाद में सूरदास की शैली में ही भगवान रामचन्द्र की बाल-लीलाओं का वर्णन किया । तुलसीदासकृत

ब्रजभाषा-रचना 'गीतावली' आदि में ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं, जो स्पष्ट रूप से सूर काव्य से प्रभावित हैं।

वल्लभाचार्य जी के व्यक्तित्व और उनके प्रकांड पांडित्य से सूरदास इतन प्रभावित हुए कि वे उनके सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए और अपने गुरु के आदेशानुसार विनय-दीनता के पदों की अपेक्षा भगवान श्रीकृष्ण का लीलागायन करने लगे। जब वल्लभाचार्य जी गऊघाट से चलने लगे, तब उन्होंने सूरदास को भी अपने साथ ले लिया। उन्होंने गोवर्धन पहुंचकर वहां के श्रीनाथ जी के मन्दिर का सूरदास को कीर्तनकार नियत किया।

सूरदास ने सं० १५६८ के लगभग, अपनी ३३ वर्ष की आयु में श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन करना आरम्भ किया था। उसके पश्चात वे अपने देहावसान काल सं० १६४० तक नियमित रूप से नित्य नए पदों की रचना द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन करते रहे। अपने १०५ वर्ष के सुदीर्घ जीवनकाल में उन्होंने प्रायः एक लक्ष पदों की रचना की थी। वे समस्त पद कालांतर में 'सूरसागर' तथा सूरदास की अन्य कृतियों में संकलित हुए।

श्रीनाथ जी के मन्दिर से कुछ दूरी पर पारसौली नामक स्थान में सूरदास रहा करते थे। वहां से प्रतिदिन श्रीनाथ जी के मन्दिर में जाकर कीर्तन करना और सांयकाल को अपने स्थान पर वापस आना, यही उनका दैनिक कार्यक्रम था। वल्लभाचार्य जी के पुत्र विट्ठलनाथ जी जब पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्य हुए, तब उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा प्रणाली का विशेष रूप से विस्तार किया। उन्होंने सेवा के तीन अंग 'शृंगार, भोग और राग' के विस्तार की विस्तृत योजना बनाई। 'राग' के विस्तार के लिए श्रीनाथ जी की आठों झांकियों में ऋतु और समय के अनुसार विभिन्न कीर्तनों की व्यवस्था की गई। इसके लिए उन्होंने अपने सम्प्रदाय के प्रमुख आठ संगीतज्ञों की सं० १६०२ में एक मंडली बनाई, जो 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हुई। सूरदास अपनी सेवा भावना और काव्य-संगीत विषयक कुशलता के कारण 'अष्टछाप' के नेता माने गए।

गो० विट्ठलनाथ जी की नवीन सेवा व्यवस्था का प्रभाव सूरदास की काव्य रचना पर भी पड़ा। उस समय उन्होंने 'सारावली' और 'सेवाफल' नामक ग्रंथों की रचना की। ऐसा अनुमान है कि इन ग्रंथों की रचना सं० १६०२ में अथवा उसके कुछ समय पश्चात हुई थी।

सं० १६०६ में 'अष्टछाप' के दूसरे प्रमुख कवि नन्ददास पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए। उस समय तक उनक हृदय में वासना के अंकुर थे और वैराग्य की दृढ़ता उत्पन्न नहीं हुई थी, अतः व सूरदास के सत्संग में रहने

के लिए पारसौली भेजे गए। सूरदास ने नन्ददास की तात्कालिक रुचि के अनुसार माधुर्य भक्ति द्वारा ही उनका निरोध करने के लिए रसरीति के दृष्टकूट पदों की रचना की थी। इस प्रकार के पदों का संकलन 'साहित्य लहरी' के नाम से प्रसिद्ध है।

सूरदास के संगीत की प्रसिद्धि दूर-दूर तक हो गई थी। बड़े-बड़े विख्यात गायक भी उनके पदों का गायन करने लगे। एक बार तानसेन ने सूरदास का एक पद अकबर बादशाह के दरबार में गाया। अकबर उस पद की रचना-माधुरी पर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने सूरदास से मिलने का विचार किया। इसके कुछ समय पश्चात अकबर राजकीय कार्य से मथुरा गए। उन दिनों सूरदास भी श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ कुछ समय के लिए मथुरा आये थे, अतः सं० १६२३ के लगभग मथुरा में अकबर बादशाह के आग्रह से सूरदास ने उनके सम्मुख एक उपदेशात्मक पद का गायन किया, जो 'सूर पच्चीसी' के नाम से प्रसिद्ध है।

पारसौली—गोवर्धन में रहकर सूरदास ने अपने जीवन के सुदीर्घ ७२ वर्षों तक श्रीनाथ जी के सम्मुख असंख्य पदों का गायन किया था। उनके सहस्रों पद वर्तमान सूरसागर की पोथियों में संकलित हो चुके हैं, और सहस्रों ही पद पुष्टि सम्प्रदायी कीर्तन की हस्तलिखित एवं मुद्रित प्रतियों में लिपिवद्ध तथा कीर्तनकारों को कण्ठस्थ हैं, जिनके संकलन की शीघ्र आवश्यकता है। उनके अन्य सहस्रों पद काल की क्रूरता और परिस्थिति की प्रतिकूलता क कारण नष्ट भी हो गए जिनके प्राप्त होने की अब कोई आशा नहीं है। सूरदास के काव्य में विनय-दीनता आदि के अतिरिक्त वात्सल्य और संयोग-वियोगात्मक शृंगार रस के पदों की अधिकता है। इन विषयों के अगणित शब्द-चित्र सूर काव्य में भरे पड़े हैं। सूरदास का जितना काव्य अभी तक प्रकाश में आया है, उसी के कारण वे हिन्दी कवियों के मुकुटमणि माने जाते हैं।

जब सूरदास को भगवद्भक्ति और कीर्तन सेवा करते हुए बहुत समय हो गया तब उनके महाप्रयाण का समय आया। अपना अन्तिम समय निकट जानकर उन्होंन अपन निवासस्थान पारसौली में श्रीनाथ जी के मन्दिर की ध्वजा को भक्तिभाव से प्रणाम किया और आप एक चबूतरे पर लेट गए। उन्होंने अपना मन समस्त लौकिक विषयों से हटाकर एकाग्र भाव से श्रीनाथ जी और गोसाईं जी के ध्यान में लगा दिया और अपने अन्तिम काल की प्रतीक्षा करने लगे। जब गोसाईं विट्ठलनाथ जी को सूरदास की इस अवस्था का समाचार मिला तब वे शीघ्र ही अपने शिष्य-सेवकों सहित सूरदास के निवासस्थान पर आए और उनका हाथ पकड़कर उन्होंने कहा, "सूरदासजी! कैसे हो?" इन शब्दों के सुनते ही सूरदास ने अपने नेत्र खोले और गोसाईं जी को अन्तिम प्रणाम किया।

M48Mof I&B—2

इसके उपरान्त उन्होंने इस पद को गुनगुनाते हुए अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिशय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते ।।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि-पलटि ताटंक फंदाते ।
'सूरदास' अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते ।।

सूरदास सं० १६४० के लगभग भगवान श्रीकृष्ण के नित्य लीलाधाम में प्रविष्ट हुए ।

: २ :

सूरदास और अष्टछाप के कवि

डा० धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी साहित्य से अनुराग रखने वाले 'अष्टछाप' नाम से भली प्रकार परिचित हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में इन आठ कवियों के लिए 'अष्टसखा' नाम भी प्रचलित है क्योंकि सम्प्रदाय की दृष्टि में ये भगवान कृष्ण के सखा माने जाते हैं। अपने पिता महाप्रभु वल्लभाचार्य के ८४ प्रसिद्ध शिष्यों में से चार तथा अपने २५२ शिष्यों में से चार को लेकर सम्प्रदाय के इन आठ प्रसिद्ध भक्त, कवि तथा संगीतज्ञों की मण्डली गुसाईं विट्ठलनाथ ने सं० १६०२ के लगभग स्थापित की थी। अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभाचार्य के चार प्रसिद्ध शिष्य कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास थे तथा गुसाईं जी के चार प्रमुख शिष्य गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास थे। इस कवि मण्डली में सबसे ज्येष्ठ कुंभनदास थे तथा सबसे कनिष्ठ नन्ददास थे। प्रतिभा तथा ख्याति की दृष्टि से प्रथम स्थान सूरदास को प्राप्त है तथा द्वितीय अथवा तृतीय स्थान नन्ददास को दिया जाता है। अष्टछाप के ये आठों भक्त आशुकवि थे और श्रीनाथ जी की आठों झांकियों में ये अपनी-अपनी पारी से कीर्तन सेवा किया करते थे। साथ ही कृष्ण लीला की अनुभूति भी इन्होंने की थी।

जैसा मैं अभी उल्लेख कर चुका हूं, कुंभनदास इनमें सबसे ज्येष्ठ थे। आयु में ये सूरदास से लगभग दस वर्ष बड़े थे। उन्हें महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सं० १५५६ के लगभग सम्प्रदाय में दीक्षित किया था। सूरदास महाप्रभु की शरण में १०-११ वर्ष बाद आए थे। कुंभनदास गौरवा क्षत्रिय थे। खेती से अपने बड़े कुटुम्ब का पालन करते थे। संसार के वैभवों की ओर से ये पूर्णतया विरक्त थे। जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के स्वरूप की स्थापना महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कराई, तो कुंभनदास की प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके सिपुर्द उन्होंने कीर्तन का कार्य किया था। गोस्वामी विट्ठलनाथ की उपस्थिति में ११५ वर्ष की आयु पाकर सं० १६४० में इनका देहावसान हुआ था।

कुंभनदास की स्वतन्त्र रचनाएं प्राप्त नहीं हैं। पुष्टि मार्ग के कीर्तन संग्रहों में इनक फुटकर पद बिखरे पड़े हैं। इनका भी पूर्ण संकलन तथा सम्पादन अभी तक

नहीं हुआ है। इनके पदों का मुख्य विषय स्वाभाविकतया श्रीकृष्ण की बाल लीला तथा प्रेम लीला से सम्बन्धित है। कुंभनदास के पदों में भाषा, भाव तथा भक्ति भावना की दृष्टि से वह प्रौढ़ता नहीं पाई जाती जो सूरदास की रचनाओं में मिलती है, किन्तु साथ ही ब्रजभाषा में साहित्यिक काव्य रचना प्रारम्भ करने का श्रेय कुंभनदास को है। सूरदास ने इसी परम्परा को अधिक विकसित और पल्लवित किया। कुंभनदास तथा सूरदास में पूर्ण सौहार्द था, यद्यपि आगे चलकर जब सूरदास ने श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन का कार्य अपने हाथ में लिया, तो उनकी असाधारण प्रतिभा के आगे कुंभनदास का महत्व धीरे-धीरे कम हो गया, ऐसा मालूम पड़ता है।

परमानन्ददास सूरदास से लगभग १५ वर्ष छोटे थे और सूरदास के दीक्षित होने के १० वर्ष बाद सं० १५७७ के लगभग उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य से प्रयाग में दीक्षा ली थी। ये कन्नौज के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। वल्लभ सम्प्रदाय में आने के पूर्व ही ये काव्य और संगीत में निपुणता प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने विवाह नहीं किया, और समस्त जीवन श्रीनाथ जी के यशगान तथा भक्ति में लगा दिया। प्रारम्भ में ये गोकुल में नवनीतप्रिया जी के स्वरूप के समक्ष, किन्तु बाद को गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मन्दिर में मौलिक पद रचना करके कीर्तन किया करते थे।

पद संख्या तथा पदों के काव्यगत गुणों की दृष्टि से सूरदास के बाद परमानन्ददास की रचना का स्थान है। यही कारण है कि 'सूरसागर' के समान परमानन्ददास के पद-संकलन को 'परमानन्द सागर' नाम दिया गया है। परमानन्ददास ने श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का अपने पदों में विशेष वर्णन किया है, यद्यपि उन्होंने शृंगार भक्ति की भी उपेक्षा नहीं की है। वे काव्य प्रतिभा में सूरदास की टक्कर तो नहीं ले पाते, किन्तु तो भी उनकी अनेक रचनाएं सूरदास की रचनाओं के लगभग समकक्ष पहुंच जाती हैं। पद रचना की दृष्टि से अष्टछाप कवियों में उन्हें प्रायः दूसरा स्थान दिया जाता है।

अष्टछाप में महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्यों में अन्तिम कृष्णदास थे। ये कवि अथवा भक्त की अपेक्षा अधिक सफल प्रबन्धक थे। इसी कारण इनके नाम के आगे प्रायः 'अधिकारी' शब्द पाया जाता है। कृष्णदास गुजराती कुनवी पटेल थे। सूरदास जी के साथ ही सं० १५६७ के लगभग इन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी। ८४ वार्ता में इनकी जो जीवनी दी हुई है, उससे इनके चरित्र के सम्बन्ध में अनेक सन्देह पैदा होने लगत हैं।

कुंभनदास, सूरदास तथा परमानन्ददास के समान कृष्णदास का सम्बन्ध श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन करने से नहीं बल्कि प्रबन्ध से था। तो भी

ये स्वात: सुखाय पद रचना भी करते रहते थे। इनके पद सम्प्रदाय के कीर्तन संग्रहों में बिखरे पड़े हैं। साहित्यिक दृष्टि से ये बहुत उच्च स्तर के नहीं कहे जा सकते।

स्वभाव से ये रसिक और कलाप्रेमी थे। इस दृष्टि से ये सूरदास जैसे विरक्त भक्त से बहुत भिन्न प्रकृति के थे। पद रचना के क्षेत्र में इनकी महत्वाकांक्षा सूरदास के समकक्ष पहुंचने की रहती थी, यद्यपि सूरदास की प्रतिभा का सौवां अंश भी इनमें नहीं था। अनेक पदों में सूरदास की भाषा तथा भाव-प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव इनकी रचनाओं में पाया जाता है। सूरदास की सर्वोत्कृष्ट पद रचना विरह शृंगार से सम्बन्धित है। कृष्णदास की अधिकांश रचना का झुकाव संयोग-शृंगार की ओर है। रासलीला इनका प्रिय विषय था। अतः इनकी रचना में राधा-कृष्ण के विहार का वर्णन विशेष पाया जाता है।

'अष्टछाप' कवियों में महाप्रभु वल्लभाचार्य के चारों शिष्य—कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास—ज्येष्ठ भक्त कवियों का वर्ग बनाते हैं। गुसाईं विट्ठलनाथ के चारों शिष्य—अर्थात गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास तथा नन्ददास—आयु तथा दीक्षा काल की दृष्टि से बाद को आते हैं।

इन चार में गोविन्दस्वामी सबसे बड़े थे, यद्यपि ये, भी सूरदास से लगभग २७ वर्ष छोटे माने जाते हैं। ये भरतपुर राज्य के रहने वाल सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ दिन गृहस्थाश्रम करने के बाद इन्हें संसार से विरक्ति हो गई थी और ये ब्रज में आकर महावन में स्वामी के रूप में रहने लगे थे। संगीत शास्त्र के ये पूर्ण ज्ञाता थे। इनकी ख्याति भक्त के अतिरिक्त गायक और कवि के रूप में भी है। सं० १५९२ के लगभग पुष्टि मार्ग में दीक्षा लेने के उपरान्त ये गोवर्धन में रहने लगे थे और श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन सेवा में ही अपना समय व्यतीत करते थे।

अष्टछाप मंडली में प्रसिद्ध गायकों में सूरदास, परमानन्ददास तथा गोविन्दस्वामी की विशेष ख्याति है। खोज में गोविन्दस्वामी के लगभग ५०० पद प्राप्त हुए हैं। काव्य कला तथा रसात्मकता की दृष्टि से सूरदास के पदों के समकक्ष इनके पद बिलकुल भी नहीं रखे जा सकते। इनके पदों का मुख्य विषय राधा-कृष्ण की प्रेम लीला है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में दूसरा प्रसिद्ध नाम छीतस्वामी का है। ये मथुरा के चौबे थे और बीरबल के पुरोहित थे। प्रारम्भ में ये दुष्ट प्रकृति के थे। पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के उपरान्त इनके जीवन में काया पलट हो गई और ये एक आदर्श भक्त का जीवन व्यतीत करने लगे। ऐसा मालूम होता है कि ये विश

पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु काव्य और संगीत से इन्हें प्रेम अवश्य था। सम्प्रदाय के प्रभाव के फलस्वरूप ये पद रचना भी करने लगे थे। इनके पद बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं और काव्य उत्कर्ष की दृष्टि से इन्हें बहुत ऊंचा स्थान नहीं दिया जा सकता। सच यह है कि सूरदास जैसे असाधारण प्रतिभाशाली भक्तकवि तथा छीतस्वामी जैसे साधारण प्रतिभा के व्यक्ति को एक मंडली में स्थान देना बहुत उचित नहीं है।

चतुर्भुजदास कुंभनदास के सबसे छोटे पुत्र थे। इस प्रकार पिता-पुत्र दोनों अष्टछाप के अन्तर्गत आते हैं। इनका झुकाव बचपन से ही धर्म की ओर था। अतः कुंभनदास अपने शेष छः पुत्रों की अपेक्षा इनसे विशेष स्नेह करते थे। केवल १० वर्ष की आयु में इन्होंने पुष्टि मार्ग में गुसाईं जी से दीक्षा ली थी। चतुर्भुजदास के तीन पद संग्रह उपलब्ध हैं। इनकी पद रचना में भक्ति तथा श्रृंगार का सुन्दर मिश्रण है। इन्होंने बाल लीला से लेकर गोपी विरह लीला तक से सम्बन्धित कृष्ण चरित का वर्णन अपने पदों में किया है।

अष्टछाप कवियों में सबसे कनिष्ठ नन्ददास थे। ये सूरदास से ५५ वर्ष छोटे थे। सूरदास के पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के लगभग ४० वर्ष बाद सं० १६०७ के लगभग १७ वर्ष की आयु में इन्होंने गुसाईं विट्ठलनाथ से दीक्षा ली थी। पहले ये रसिक प्रकृति के थे किन्तु पुष्टि मार्ग में आने के बाद इनका जीवन ही बदल गया।

अष्टछाप कवियों में केवल नन्ददास ही ऐसे हैं जिन्होंने पद रचना के अतिरिक्त कृष्ण चरित सम्बन्धी अनेक सफल खंडकाव्य भी लिखे हैं। भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की ओर इन्होंने विशेष ध्यान दिया है। इनके दो ब्रजभाषा कोष—अनेकार्थ तथा नाममाला—भी मिलते हैं।

नन्ददास कदाचित सूरदास के सम्पर्क में विशेष आए थे और उनसे प्रेरणा लेकर वे काव्य रचना की ओर झुके थे। इन्होंने जायसी तथा तुलसीदास की चौपाई शैली में भी काव्य रचना की है। नन्ददास की काव्यगत प्रतिभा में मौलिकता की मात्रा विशेष नहीं है, इनके सबसे प्रसिद्ध खंडकाव्य 'रास पंचाध्यायी' और 'भ्रमरगीत' हैं। दोनों पर श्रीमद्भागवत तथा सूरसागर की विशेष छाप पाई जाती है। एक आलोचक के शब्दों में "सूरदास की अधिकांश रचना पदों में है, भिन्न शैलियों में कम है, किन्तु नन्ददास की रचना पदों में कम और भिन्न शैलियों में अधिक है।" अष्टछाप में कवि के रूप में सूरदास के बाद नन्ददास का नाम ही विशेष प्रसिद्ध है।

अष्टछाप के ज्येष्ठतम कवि कुंभनदास का जन्म सं० १५२५ में माना जाता है और कनिष्ठतम कवि नन्ददास का जन्म ६५ वर्ष बाद सं० १५९० में माना जाता है किन्तु सम्प्रदाय में सुरक्षित जनश्रुति के अनुसार अष्टछाप के अधिकांश

कवियों का देहावसान सं० १६४० से १६४२ के बीच में हुआ। यह एक विचित्र संयोग है। गोसाईं विट्ठलनाथ के तीन शिष्यों—गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी तथा चतुर्भुजदास—को तो गुसाईं जी के देहावसान से ऐसा धक्का लगा कि शीघ्र ही इन्होंने भी प्राण दे दिए।

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि अष्टछाप मण्डली के कवियों में सूरदास सर्वोपरि हैं। इनकी काव्य प्रतिभा, भाषा अधिकार, भाव चित्रण तथा भक्ति भावना की टक्कर अष्टछाप का कोई भी अन्य कवि नहीं ले सकता। सच तो यह है कि अधिकांश कवि उनसे बहुत नीचे रह जाते हैं। सूरदास के बाद कवि के रूप में नन्ददास तथा पद रचयिता की दृष्टि से परमानन्ददास महत्व रखते हैं। गोविन्दस्वामी प्रसिद्ध संगीत मर्मज्ञ थे। शेष चार की प्रतिभा तो बहुत ही साधारण श्रेणी की थी।

: ३ :

सूरदास और संगीत

डा० बी० एन० भट्ट

हिन्दी साहित्य को अपनी प्रतिभा से आलोकित करने वाले महाकवि सूरदास का प्रादुर्भाव जिस युग में हुआ था, वह काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग है। इस युग की सभी प्रमुख विशेषताएं गीतिकाव्य में मुखरित हुई हैं।

गीतिकाव्य में विचारों का नहीं प्रत्युत भावों का उद्वेलन होता है। हृदय पक्ष का प्राधान्य होने से गीतिकाव्य में भावात्मक अन्तर्जगत के स्पष्टीकरण की अपूर्व क्षमता है। कवि जब अपनी ही अन्तरात्मा से अनुभूति प्राप्त करके आत्माभिव्यंजन में प्रयत्नशील होता है, तब गीतिकाव्य का सृजन होता है। इस दृष्टि से गीतिकाव्य अपने ही हृदय की सच्ची गाथा है, वह व्यक्तिगत सुख-दुख की कहानी है और यही कारण है कि इस प्रकार का काव्य मर्मस्पर्शी प्रकरणों से सदैव ओत-प्रोत रहता है। आदिम युग से जो राग-द्वेषात्मक मनोवृत्तियां मानव के विभिन्न क्रिया-कलापों का संचालन करती आई हैं, उन्हीं का स्पष्टीकरण गीतिकाव्य का प्रधान विषय है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि गीतिकाव्य सदैव गेय होता है, अतः भाव सारल्य के साथ भाषा की सरलता, एवं शब्द योजना के साथ स्वर, ताल, लय और राग के सुन्दर समन्वय की शक्ति जिस व्यक्ति में जितनी अधिक है, वह उतना ही सफल गीतिकार है। महाकवि सूरदास में ये सभी विशेषताएं पूर्णरूपेण विद्यमान थीं और उनकी इसी निपुणता पर मुग्ध होकर वल्लभाचार्य ने उन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर की कीर्तन सेवा सौंपी थी।

सूर ने अपने सागर को जिस गीतिशैली से अलंकृत किया है, वह उनकी मौलिक उद्भावना नहीं है। मध्ययुगीन पदों तथा उस युग के पूर्व से चली आती हुई लोकगीत पद्धति में जो असंदिग्ध समानता परिलक्षित होती है, वह इस कथन का जाज्वल्यमान प्रमाण है। सूर के बहुत पहले मैथिल कोकिल विद्यापति पद साहित्य की श्रीवृद्धि कर चुके थे। संतों और नाथ सम्प्रदाय के साधुओं ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया था। सूर की विदग्धता, गम्भीरता, मार्मिकता एवं अनुभूति की तीव्रता से समन्वित होकर यही शैली परमार्जित

एवं कलापूर्ण हो गई थी । मीरा, तुलसी और सूर इस परम्परागत शैली में शास्त्रीय संगीत के विधायक थे ।

सूर के इस शास्त्रीय संगीत के विधान का मूल्यांकन वर्तमान शास्त्रीय संगीत के आधार पर करना अधिक समीचीन नहीं है । उनके युग के शास्त्रीय संगीत की रूपरेखा समझने के लिए भारतीय संगीत के इतिहास के उन पृष्ठों को पलटना होगा, जो उस काल के संगीत की स्थिति के परिचायक हैं । लोचन पंडित की 'रागतरंगिणी', हृदयनारायणदेवकृत 'हृदयकौतुक' और 'हृदय-प्रकाश' तथा अहोवल के 'संगीत पारिजात' से सूर तथा उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती युग के शास्त्रीय संगीत का वहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । भारतीय संगीत सदैव परिवर्तनशील रहा है । युग-युग में उसकी मान्यताएं एवं धारणाएं वदलती रही हैं । भैरव राग यदि आज सम्पूर्ण-सम्पूर्ण जाति का राग है, तो कभी वह औडुव-औडुव जाति का राग भी रह चुका है । उस प्राचीन भैरव को तो आज के श्रोता भैरव मानने को भी तैयार न होंगे । लोचन पंडित के समय की टोड़ी आज के भैरवी थाट के निकट है । पुरानी घनाश्री आज की पूरियाधनाश्री जैसी है । ऐसी स्थिति में सूरसागर में दिए हुए पदों के अर्थ और उनके राग को लेकर उनमें रस की पारस्परिक एकरूपता के निरूपण का प्रयत्न वस्तुतः एक जटिल समस्या है । जिन रागों के प्राचीन नाद-स्वरूप में अत्यधिक परिवर्तन नहीं हुआ है, उनके सम्बन्ध में तो इस प्रकार की खोज कुछ उपादेय भी है, परन्तु शेष रागों की ऊहापोह से विशेष लाभ की आशा नहीं है । तत्कालीन पदों की स्वर-लिपियों के अभाव से तथा अन्य ऐसे किसी साधन के उपलब्ध न होने से निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सूरसागर के पदों को स्वतः सूरदास अथवा उनके समय के अन्य गायक किस प्रकार गाते थे तथा राग, स्वर, ताल और लय के साथ पदों के अक्षरों और शब्दों का क्या सम्वन्ध रहता था । सूरसागर के पदों को गायक आज भी गाते हैं, परन्तु अधिकांश गायक पदों के निर्दिष्ट रागों की चिन्ता छोड़कर, उन्हें स्वेच्छा-नुसार प्रचलित किसी राग के स्वरों में वांध लेते हैं । दूसरे शब्दों में इसे यों कह लीजिए कि यदि किसी पद के राग का निर्देश करते हुए उसके ऊपर 'राग कान्हरा' लिखा है, तो उसके स्थान पर 'राग घनाश्री' लिख देने से आज के अधिकांश गायकों को विशेष आपत्ति न होगी ।

तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सूर के पदों में शास्त्रीय संगीत का विधान तो है, परन्तु उनकी पद शैली अपनी पूर्ववर्ती शास्त्रीय संगीत पद्धति का विकसित रूप नहीं है । अतः सूर के पदों में शास्त्रीय संगीत विधान की अपेक्षा भाव और साहित्य की प्रतिष्ठा का आग्रह अधिक है । संगीत में शब्दों की अपेक्षा

M48Mof I&B—3

स्वर सामंजस्य, लय और ताल का अधिक महत्व होता है। किन्तु सूर का युग यदि गीतिकाव्य का स्वर्ण युग है तो वह शास्त्रीय संगीत का भी स्वर्ण युग है। उसी शताब्दी को तानसेन जैसे अमर गायक का भी अभिमान है। अकबर जैसे कला पारखी सम्राट के दरबार में जो संगीत अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था उसका प्रभाव दरबार के बाहर भी पड़ना अवश्यंभावी था। फलतः उस काल के पद लेखकों ने शास्त्रीय संगीत के उतने अंश को ग्रहण कर लिया था जितने से उनके पद अपनी भावुकता और साहित्यिकता को अक्षुण्ण रखते हुए धनुष पर चढ़े हुए तीर के समान प्रभावशाली हो सकते थे।

एक प्रसिद्ध पद की ये प्रारम्भिक पंक्तियां देखिए :

पिया बिन नागिन कारी रात
कबहुंक जामिनि उवति जुन्हैया, डस उलटी ह्वै जात।

संगीत से अलग भी इन पंक्तियों का स्वतन्त्र अस्तित्व और प्रभाव है। फिर यदि संगीत से समन्वित होकर ये अनुपम शक्ति सम्पन्न हो उठें तो आश्चर्य ही क्या है।

वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में भगवान कृष्ण की दिनचर्या को विशेष महत्व दिया जाता है। प्रातःकाल कृष्ण को जगाया जाता है। कलेवा कराकर उन्हें गोचारण के हेतु वन में भेज दिया जाता है। सायंकाल को वे गोचारण के पश्चात लौटकर आते हैं। वर्षा ऋतु में, वसन्त में, होली के अवसर पर विशेष उत्सव भी होते हैं। इन नैमित्तिक कार्यों के साथ गायन-वादन का भी समारोह रहता है। वल्लभाचार्य द्वारा श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन के लिए नियुक्त हो जाने के पश्चात सूरदास अवसर के उपयुक्त नवीन-नवीन पदों की रचना करके उन्हें भगवान के सम्मुख गाते रहते थे। सूरदास ने अवसरानुकूल पदों के लिए समयानुकूल रागों को चुना है। उदाहरणार्थ सूरसागर के दशम स्कंध में 'लालहिं जगाइ बलि गई माता' शीर्षक पद रामकली में है। 'उठे नन्दलाल सुनत जननी मुख वानी' शीर्षक पद ललित में है। ये दोनों राग शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से प्रातःकालीन संधिप्रकाश राग हैं, अतः दोनों ही राग समयानुकूल हैं। सूर्योदय के पश्चात कृष्ण गोचारण के लिए वन में जाते हैं। इस अवसर से सम्बन्ध रखने वाले अधिकांश पदों को सूरदास जी ने बिलावल राग के अन्तर्गत रखा है। आजकल भी संधिप्रकाश रागों के पश्चात दिन के प्रथम पहर में बिलावल एक अत्यन्त प्रचलित राग है। दोपहर के समय कृष्ण के लिए छाक भेजी जाती है। वन में सब ग्वाल-बाल मिलकर छाक खाते

हैं। इस विषय से सम्वन्धित अधिकांश पद सारंग राग में हैं। मध्यान्ह के रागों में सारंग एक प्रमुख राग है। इस राग के यद्यपि अनेक भेद होते हैं, तथापि उनमें सबसे अधिक प्रचलित 'बिन्द्रावनी सारंग' है।

सामान्यतः सारंग राग कहने स गायक-वादकों को बिन्द्रावनी सारंग की ही कल्पना होती है। तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास का निवासस्थान होने के कारण वृन्दावन संगीत का महत्वपूर्ण केन्द्र भी रह चुका है। जो लोग व्रज के लोक-गीतों से परिचित हैं, उनसे यह छिपा नहीं है कि व्रज के अनेक लोकगीतों में सारंग राग की गहरी छाप दृष्टिगोचर होती है। सूरसागर के अनेक उद्धरण लेकर इस कथन को और भी पुष्ट किया जा सकता है।

परन्तु गीतिकाव्य की एकमात्र कसौटी संगीत नहीं है। यह तो उसकी अनेक विशेषताओं में से एक है। उपयुक्त शब्द चयन, चित्रप्रधान कल्पना, आवरण विहीन भावसौंदर्य के दिग्दर्शन तथा वैयक्तिक राग-द्वेष, उल्लास-अश्रु, हर्ष-शोक इत्यादि की मार्मिक अभिव्यंजना के द्वारा ही गीतिकाव्य को पूर्णता प्राप्त होती है। सूर के पदों की ये प्रमुख विशेषताएं हैं। इन्हीं विशेषताओं को संगीत से समन्वित करके सूर ने रागात्मक वृत्ति का उदात्तीकरण किया है। सूर के युग के शास्त्रीय संगीत तथा उस युग के पदसंगीत में बहुत कुछ ऐसा ही अन्तर रहा होगा, जैसा आज के शास्त्रीय संगीत और भजनों में है। वर्तमान खयाल-गायकी और भजन की गायकी में तात्विक अन्तर है। खयाल गायकी में आलाप, स्वर, ताल, लय, रागनिर्वाह तथा तानों को जैसा महत्व प्राप्त है, वैसा चाहे भजन की गायकी में दृष्टिगोचर न हो फिर भी खयाल-गायकी की जो छाया भजन की गायकी में परिलक्षित होती है, वह उसे खयाल-गायकों से प्रभावित अवश्य सिद्ध करती है। सूर के युग में ध्रुपद की गायकी अपने चरमोत्कर्ष को पहुंच गई थी, अतः उस युग का पदसंगीत आमूलचूल रूप में ध्रुपद जैसी वस्तु न होते हुए भी उस ओर उन्मुख अवश्य रहा होगा।

अर्थ व्यंजना और भावसौंदर्य सूर के गीतों की आत्मा है। उनके गीतों की इस विशेषता पर मुग्ध होकर आज भी गायक बरबस उनके पदों को किसी राग में गुनगुना उठते हैं। सूर के आत्मनिवेदन और विनय के पदों में यदि भक्त हृदय की व्याकुलता है, तो राधा-कृष्ण के बाल और यौवन के वर्णनात्मक पद विश्व साहित्य में अद्वितीय हैं। अपनी चित्रप्रधान कल्पना के आधार पर उनका भावुक हृदय बहुत ऊंची उड़ान भरता हुआ मानव हृदय की विभिन्न अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यंजना करता है। भावोन्मेष को अक्षुण्ण रखने के लिए सूर ने नैतिकता की भी विशेष चिन्ता नहीं की। फलतः उनके गीतों में रागात्मक अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो उठी है।

भावों के व्यक्तीकरण का मुख्य साधन भाषा है। यदि भावों को व्यक्त करने वाली भाषा क्लिष्ट, दुरूह अथवा कठिनता से बोधगम्य होनेवाली हुई, तो उससे भावों का सारल्य तिरोहित हो जाता है। गीतिकाव्य श्रव्य काव्य है, किन्तु यदि गीतों को सुनने वाले श्रोता भाषा की क्लिष्टता के कारण उसके अर्थ अथवा भाव को ही समझने में लगे रह गए, तो गीत का वे कितना आनन्द प्राप्त कर सकेंगे? सूर की भाषा में प्रवाह, आत्मानुभूति की तीव्रता, और मानव हृदय के कोमल भावों को व्यक्त करने की अनुपम शक्ति है। भाव और रसानुकूल शब्द योजना से उनकी भाषा में मधुर संगीतात्मक प्रवाह आ गया है। सूर के कूट पदों में अवश्य दुरूहता है और मुख्यत: इसी कारण उनके कूट पद गायकों में विशेष प्रचलित भी न हो सके, परन्तु अन्यत्र उनकी भाषा गीति-काव्य के लिए बड़ी ही उपयुक्त है। सूर ने अपने युग की चलती हुई ब्रजभाषा में जो माधुर्य, साहित्यिकता और संगीतात्मक प्रवाह भर दिया था, उसी का यह प्रभाव था कि आगे चलकर लगभग ४०० वर्षों तक ब्रज भाषा गीति-काव्य की प्रमुख भाषा बनी रही।

सूरदास के संगीत को इन व्यापक विशेषताओं के विश्लेषण के लिए उनका कोई भी सरस पद लिया जा सकता है। सूरसागर का 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' शीर्षक पद तो लोगों को बहुत ही प्रिय है। सूर ने इसे मल्हार राग में लिखा है और आजकल के अनेक खयाल गायक भी इसे मल्हार के ही किसी प्रचलित प्रकार में गाते हैं। शास्त्रीय संगीत से अपरिचित गायकों को भी यह पद बड़ा प्रिय है और वे भी इसे किसी धुन में बांधकर इसका आनंन्द लेते रहते हैं। सूर की सरस भाषा, उनकी भावुकता और भावों का सजीव चित्र उपस्थित कर देने वाली मनोरम कल्पना ने इस पद में कुछ ऐसा आकर्षण भर दिया है कि कोई सहृदय इस पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता——

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे।।

एक ओर गोपियां अपने नेत्रों से कभी न बन्द होने वाली आंसुओं की झड़ी को देखती हैं और दूसरी ओर वर्षा ऋतु को। उनके हृदय की बेबसी, बेचैनी और मूक वेदना जैसे इन पंक्तियों में मूर्तिमान हो उठी है। सूर के अधि-कांश पद भाषा, भाव और कल्पना की इसी त्रिवेणी में स्नात हैं। सूर के पदों का यही प्राण है। संगीत के जिस मनोरम शरीर में इन प्राणों का निवास है, वह भी बड़ा सुन्दर है। बरसते हुए नेत्रों और पावस की झड़ी को सम्मुख देखकर मल्हार के अतिरिक्त भला और किस राग की कल्पना होगी? प्रकृति के प्रांगण में घटित होने वाली घटनाओं को मन अपने ही रंग में रंगकर देखता है।

विरह व्यथित हृदय को प्रतीत होता है मानो घनघोर घटाओं में दामिनी की तड़प से उद्विग्न होकर आकाश रो उठा है। विशिष्ट मनोदशा में पावस के उमड़ते हुए आवेश के साथ जब मानव हृदय स्पंदन करने लगता है, जब तड़ित की तड़क में उसे अपनी ही वेदना की अनुभूति होती है। अभी मैंने जिस पद की चर्चा की, उसमें साहित्य और संगीत का जो समन्वय हुआ है वह सहृदय संवेद्य है। ऐसे अनमोल रत्नों की सूर के सागर में कमी नहीं और यह है महाकवि सूरदास की संगीत साधना, जिसने उन्हें और उनके पदों को युग-युग के लिए अमर बना दिया है। तभी तो कहा जाता है कि :

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर ।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर ।।

: ४ :

सूरदास की भक्ति पद्धति

डा० विजयेन्द्र स्नातक

भक्त शिरोमणि महात्मा सूरदास ने गोस्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर जिस भक्ति पद्धति का अनुसरण किया वह वैष्णव सम्प्रदाय में सख्य कोटि की अनन्य भक्ति कही जाती है। उपासक अपनी अनन्य निष्ठा भावना से भगवान कृष्ण के पुनीत चरणों में लीन होकर सांसारिक विषय-वासना से मुंह फेर जब सब कुछ विस्मृत कर देता है तभी अनन्य भाव की भक्ति का श्रीगणेश समझना चाहिए।

अंधभक्त सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि जीवन के प्रथम चरण में उन्होंने निर्गुण साधना पद्धति को स्वीकार कर कुछ पद रचना की थी :

नैननि निरखि स्याम स्वरूप ।
रह्यो घट-घट व्यापि सोई जोति रूप अनूप । (सूरसागर)

यह पद और ऐसे ही दसियों पद मिलते हैं जिनमें घट-घट व्यापी को अलख-अगोचर मानकर निर्गुण साधना पद्धति से जानने का संकेत है। इन पदों में माया का वर्णन भी सूर ने ब्रह्मज्ञानियों की शैली से किया है :

माधव, नेंकु हटकौ गाइ ।
भ्रमत निसि-वासर अपथ-पथ अगह-गहि नहिं जाइ । (सूरसागर ५६)
झूठी है सांची सी लागति अस माया सो जानि । (सू० सा० ३८१)

कबीर आदि निर्गुणपन्थी भक्तों की भांति सूर भी पहले बहिर्साधना (सगुण सेवा पूजा) की अपेक्षा आन्तरिक साधना (निर्गुण ध्यान उपासना) को ही अधिक उपयुक्त समझते थे। बहिर्मुखी वृत्ति का सूर ने प्रारम्भ में खण्डन किया था किन्तु बाद म वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने पर भीतर-बाहर सब जगह भगवान की लीला का विस्तार उन्हें दृष्टिगत होने लगा और वे सगुण रूप में ईश्वर की लीला का गुणगान करने लगे।

सूर की भक्ति पद्धति का अनुसन्धान उनके पदों से ही किया जा सकता है। सूर की रचना में दो प्रकार के पद मिलते हैं : एक विनय भक्ति सम्बन्धी

पद और दूसरे सख्य भक्ति सम्बन्धी पद। प्रसिद्ध है कि वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पहले जब सूरदास गऊघाट पर रहते थे, तब वे विनय और दास्य भाव के पद बनाकर अपनी भक्ति भावना का परिचय दिया करते थे। विनय भक्ति की साधना में वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार सात भूमिकाएं स्वीकार की गई हैं। इन सात भूमिकाओं के आधार पर सात प्रकार का पद गान करना सूरदास को भी अभीष्ट हुआ। दीनता, मानमर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा––ये सात स्थितियां हैं। इन सातों भूमिकाओं को लक्ष्य करके सूर ने पद रचना की है और अपने भक्ति भाव की प्रथम स्थिति का अच्छा परिचय दिया है। दैन्य या कार्पण्य प्रदर्शन करते हुए बड़े विनीत भाव से सूर कहते हैं :

प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के, हौं तो जनमत ही कौ।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार यह पद सूरदास ने महाप्रभु वल्लभाचार्य के समक्ष गाया था। उसे सुनकर आचार्य जी ने कहा कि 'जो सूर है कै ऐसो काहे को घिघियात है कछू भगवत लीला वर्णन करि।' इस फटकार को सुनते ही सूर ने विनय के पद गाना समाप्त कर भगवान की वैष्णव सम्प्रदाय में वर्णित लीला का गान प्रारम्भ किया।

कर्मजोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम बिसरायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो ।। (सूरसागर)

विनय भक्तिका आधार दास्य भाव है—दास्य भाव में अपनी हीनता और भगवान की उच्चता इस कोटि की होती है कि भक्त कभी भगवान के समकक्ष या तुल्य नहीं हो सकता। लीला वर्णन इससे भिन्न कोटि का है। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि यह लीला क्या है भारतीय भक्ति पद्धति में भगवत लीला की कल्पना सर्वथा अभिनव और उच्च है। अगम, अगोचर और अनिर्वचनीय ईश्वर की लीला का वर्णन सम्भव भी कैसे हो सकता है! भगवान अनुभवैकगम्य हैं। वे स्वयं आनन्दरूप हैं, अमृतरूप हैं, रसरूप हैं। फिर वे लीला क्यों करत हैं और उस लीला का वर्णन करके भक्तजन प्रमुदित कैसे होते हैं? वल्लभ सम्प्रदाय में इस लीला की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि भगवत साक्षात्कार बड़ी बात नहीं है—बड़ी बात है भगवत प्रेम। भगवान के प्रति परम प्रेम, एकान्त प्रेम ही भक्ति है। लीला उसी प्रेम का प्रपंच है। वल्लभाचार्य ने लीला का माहात्म्य वर्णन करते हुए अपने ब्रह्म सूत्र के भाष्य में लिखा है "लीला विशिष्टमव शुद्धं परमं ब्रह्म, न कदाचित् तद्रहितंमित्यर्थः। ते च (लीलायाः) नित्यत्वम्। अथवा लीला एव कैवल्यं, जीवानां मुक्ति रूपं तत्र प्रवेशः परमा मुक्तिरिति।"

अर्थात लीला कैवल्य और मुक्ति से बढ़कर परम मुक्ति है। वे आगे लीला का प्रयोजन कहते हैं—'नहि लीलायाः किंचित् प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात्।' अर्थात लीला का कोई बाह्य प्रयोजन नहीं—लीला का प्रयोजन लीला ही है। भगवान का स्वभाव ही लीला करना है। लीला वर्णन के लिए भगवान के कान्ता भाव या दाम्पत्य भाव का ग्रहण करना आवश्यक है। कान्ता भाव के लिए ही राधा प्रेम की कल्पना की गई है, अतः वैष्णव सम्प्रदाय में राधा भाव का प्रेम ही परम भक्ति है।

श्री वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में लीला वर्णन द्वारा राधा-कृष्ण की आराधना को चरम उत्कर्ष प्राप्त हुआ और सखा भाव से कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करने का प्रयत्न भक्तों ने किया। फलतः सूरदास भी अपनी विनय भाव और दास्य भक्ति को छोड़ सख्य भक्ति के क्षेत्र में अवतरित हुए और अपने तानपूरे पर सखा श्रीकृष्ण की लीला वर्णन, कीर्तन, स्मरण आदि करने में लीन हो गए और उन्होंने नवधा भक्ति के सभी रूपों का वर्णन किया।

किन्तु प्रमुख रूप से सख्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति और मधुर भक्ति को ही पल्लवित करने वाले पद आपने अधिक लिखे, क्योंकि इन तीनों रूपों में ही आचार्य वल्लभ ने भगवद्भक्ति का विस्तार करने का निर्देश किया था।

यथार्थ में सूर की भक्ति पद्धति का मेरुदण्ड पुष्टिमार्गीय भक्ति है। भगवान की भक्त पर कृपा का ही नाम पोषण है—'पोषणं तदनुग्रहः'। पोषण के भाव को स्पष्ट करने के लिए भक्ति के दो रूप बताए गए हैं : एक साधन रूप और दूसरा साध्य रूप। साधन भक्ति में भक्त को प्रयत्न करना होता है, किन्तु साध्य रूप में भक्त सब कुछ विसर्जित करके भगवान की शरण में अपने को छोड़ देता है। क्रीड़नशील बालक जैसे थककर अन्त में मां की गोद में ही विश्राम-चैन पाता है, वैसे ही जीव श्रीकृष्ण की शरण में पुष्टि पाकर सफलकाम होता है। पुष्टिमार्गीय भक्ति को अपनाने के बाद प्रभु स्वयं अपने भक्त का ध्यान रखते हैं, भक्त तो अनुग्रह पर भरोसा करके शान्त बैठ जाता है—आचार्य वल्लभ ने पोषण शब्द से ही पुष्टि शब्द का निर्माण किया। इस मार्ग में भगवान के अनुग्रह पर ही सर्वाधिक बल दिया जाता है। भगवान का अनुग्रह ही भक्त का कल्याण करके उसे इस लोक से मुक्त करने में समर्थ होता है :

जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन बड़ौ सुंन्दर सोइ जापर कृपा करै।
सूर पतित तरि जाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै।

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए सूर की भक्ति पद्धति में अनुग्रह का ही प्राधान्य है—ज्ञान, योग, कर्म, यहां तक कि उपासना भी निरर्थक समझी जाती है; सूरदास कहते हैं :

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो ।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो ।

सूरदास भक्ति के क्षेत्र में भगवदासक्ति के एकादश रूपों का भी वर्णन करते हैं । नारद भक्ति सूत्र के अनुसार आसक्ति के एकादश रूप इस प्रकार हैं—गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परमविरहासक्ति । यद्यपि सूर ने आसक्ति के रूप में इन ग्यारहों विधाओं का वर्णन किया किन्तु उनका मन सख्य, वात्सल्य, रूप, कान्त और तन्मयासक्ति में ही अधिक रमा है । तन्मयासक्ति का उदाहरण सुनिए :

उर में माखन चोर गड़े ।
अब कैसे हूं निकसत नाही ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े ।

परम विरहासक्ति भंवरगीत के पदों में बड़ी समीचीन शैली से व्यक्त हुई है । सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवि परमानन्ददास तथा कुंभनदास ने भी इस विषय पर पद लिखे हैं । प्रेमाभक्ति में विरह की स्वीकृति इस सम्प्रदाय में प्रारम्भ से मिलती है ।

भक्ति के दार्शनिक स्वरूप की ओर भी सूर का ध्यान बराबर बना रहा । सिद्धान्त पक्ष की स्थापना में सूर ने वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत का ध्यान रखा और ब्रह्म, जीव आदि का वर्णन करते समय सूक्ष्म बातों का भी यथास्थान उल्लेख किया । इतना ही नहीं, सूरदास ने ईश्वर, माया, जीव, काल और सृष्टि रचना का विशद वर्णन करके अपने भक्ति सिद्धांत को इतना पुष्ट और परिपूर्ण बना दिया कि उसमें एक ओर जहां गहन दार्शनिकता आ गई है, वहां दूसरी ओर जीवन की कोमल भावनाओं के कारण सुकुमारता, भावुकता और तल्लीनता की भी कमी नहीं है ।

सूरदास की भक्ति के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात करके यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि सूरदास की भक्ति का प्रमुख आधार पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्त 'भगवदनुग्रह' ही था और इसी को केन्द्र बिन्दु मानकर वे वात्सल्य, प्रेम आदि की व्यंजना करने में लीन रहे । भक्ति में कृपा की प्राप्ति का साधन उन्होंने प्रेम को माना । बाद में प्रेमाभक्ति को अपनाकर उन्होंने भगवत्प्रेम को ही भक्ति

का मेरुदण्ड मान लिया । प्रेम की परिभाषा उन्हीं के शब्दों में सुनिए :

प्रेम प्रेम ते होई, प्रेम ते पारहिं पइए ।
प्रेम बंध्यौ संसार, प्रेम परमारथ लहिए ।।
एकै निश्चय प्रेम को जीवनमुक्ति रसाल ।
सांचौ निश्चय प्रेम को जहिरैं मिलें गोपाल ।।

प्रेम की परिपूर्णता के लिए विरह को आवश्यक मानकर सूर ने प्रेमाभक्ति को परिपूर्ण बनाया है :

ऊधौ विरहौ प्रेम करै ।
ज्यों बिनु पुट पर गहत न रंग को रंगन रसै परै ।
ज्यों धर दहै बीज अंकुर गिरि तो सत फरनि फरै ।

सूरदास ने प्रेम और विरह के द्वारा सगुण मार्ग से कृष्ण को साध्य माना है । उनके कृष्ण सखा रूप में भी सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं । विष्णु, हरि, राम आदि सब कृष्ण ही के नाम हैं । निर्गुण ब्रह्म के ये सगुण नाम हैं और इनमें भेदबुद्धि सूरदास को अभीष्ट नहीं । सूरदास ने जहां रामकथा का उल्लेख किया है, वहां यही आशय है कि दोनों ही कृष्ण के रूप हैं, इनमें कोई भेद-भाव नहीं है । राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना है और इसीलिए कवि ने इसे शेष, महेश, शंभु, नारद आदि की स्वामिनी कहा है । निर्गुण सिन्धु में अवगाहन करना साधारण जन के लिए कठिन मान सूरदास ने सगुण कृष्ण भक्ति का पथ प्रशस्त किया—निर्गुण समुद्र से बचने के लिए सगुण कृष्ण का वर्णन उन्हें अभीष्ट हुआ—"कौन काज या निर्गुण सो चिरजीवहु कान्ह हमारे ।"

चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने भक्ति के दो रूप बताए हैं : गौणी तथा परा । पराभक्ति सिद्धावस्था से सम्बन्ध रखती है : लौकिक भक्तों के लिए गौणी भक्ति का ही विधान है । इस गौणी भक्ति के दो रूप हैं : पहली वैधी और दूसरी रागानुगा । रागानुगा भक्ति राग या प्रेम पर अवलम्बित है । इसको विहिता और अविहिता नाम से वल्लभाचार्य ने अपने अणुभाष्य में कहा है । पुष्टि मार्ग में रागानुगा भक्ति को स्वीकार किया गया । इसके भी दो भेद हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा । गोपियों की भक्ति कामरूपा थी । सूरदास न दोनों भेदों को मानकर काम और सम्बन्धरूपा का वर्णन किया है ।

सख्य भक्ति का सूरसागर में दो रूपों में प्रस्फुटन हुआ है । पहला रूप तो गोप-ग्वालों के साथ कृष्ण का सखा रूप में विचरण करना और कृष्ण के अतिरिक्त किसी और में ध्यान न रखना । गोप-ग्वालों का कृष्ण के साथ अनन्य भाव का एक ऐसा अटूट प्रेम सम्बन्ध है जिसमें न तो ऊंच-नीच का भेद-भाव है और न किसी प्रकार का दुराव-छिपाव ही उनमें कहीं रह पाया है । गोप-ग्वालों के सिवाय

गोपियों का श्रीकृष्ण क प्रति प्रम भाव भी इसी कोटि का है। उसमें विरहजन्य वेदना के कारण सूरदास ने तल्लीनता की मात्रा अधिक व्यक्त की है। विरह में विभोर गोपियों की व्यथा का सजीव वर्णन भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों में देखने को मिलता है। भ्रमरगीत के पदों में गोपियों की मार्मिक उक्तियां, सगुण-निर्गुण का विवेचन, ज्ञान और भक्ति का तारतम्य और भक्ति की सीमाओं का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है वह सूरदास की भक्ति पद्धति के दार्शनिक एवं भावुक दोनों रूप सामने लाने में समर्थ है।

संख्य भक्ति के साथ सूरदास ने भक्ति को सुगम और सर्वजनसुलभ वनाने के लिए वात्सल्य भाव द्वारा भी भगवान की आराधना-उपासना की है। सख्य भाव की अपेक्षा वात्सल्य भाव में भक्त को इष्टदेव का सामीप्य अधिक प्राप्त होता है। बाल लीला की रसमग्नता इतनी अधिक होती है कि कृष्ण का वैभव और उनकी असीम शक्ति का ज्ञान कुछ समय के लिए तिरोहित-सा हो जाता है और भक्त भगवान क निकट उसी रूप में पहुंच जाता है जैसे बालक के पास उनके माता-पिता, बन्धु, सखा आदि। यशोदा और नन्द के द्वारा जिस वात्सल्य भाव का चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें श्रीकृष्ण के अति मानवीय कृत्यों के प्रति अधिक आतंकपूर्ण प्रभाव तथा महत्व न होने से भक्त को भगवान के समीप जाने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है।

वैष्णव सम्प्रदायों में माधुर्य भाव की भक्ति को अन्य प्रकार की भक्ति पद्धतियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है; कारण यह है कि व्यक्तिगत सम्बन्ध की निकटता और अनन्यता की दृष्टि से माधुर्य भाव में जो उत्कर्ष है वह अन्य प्रकार की भक्ति में परिलक्षित नहीं होता। विभिन्न लीलाओं के प्रसंग, माधुर्य भाव को स्पष्ट करने वाले मनोरम प्रसंग हैं जिनमें भगवान की असीम शक्ति को पतिरूप में वरण करके गोपियां सुखी होती हैं। दान लीला आदि में असंदिग्ध शब्दों में कवि ने गोपियों के द्वारा माधुर्य के आलम्बन के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य सभी रूपों की अवहेलना करके यह प्रदर्शित किया है कि अनन्य भाव की चरम परिणति, गोपियों के माधुर्य भाव में ही हो सकती है। गोपियों के द्वारा कृष्ण की प्राकृत और अतिप्राकृत दोनों प्रकार की गौरव गरिमा का उपहास कराके यह दिखाया गया है कि उनका प्रेम उनकी इन्द्रियों और मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर निर्भर है जिसका आधार कृष्ण का मनोहर रूप तथा उनकी प्रेम-प्रवण लीलाएं हैं। माधुर्य भाव की भक्ति के सम्बन्ध में अति शृंगारिक और वासना-प्रधान होने का जो भ्रम फैला हुआ है उसका निवारण भी सूर की माधुर्य भक्ति वाले पदों से हो जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर की भक्ति पद्धति में जिस माधुर्य भाव को स्थान

मिला है, वह मुख्य रूप से लीलाओं पर आधारित है। इसी कारण उसे केवल-मात्र ऐन्द्रियिक नहीं कहा जा सकता। भ्रमरगीत में गोपियों की उक्तियां केवल ऐन्द्रियिक सुख को व्यक्त नहीं करतीं, वरन वे उनके हृदय की पवित्रता, निश्छलता, अनन्यता और उदारता का परिचय देती हैं। ज्ञान मार्ग के पथिक उद्धव का ज्ञान भूलकर सगुण प्रेम की भक्ति को स्वीकार करना इस बात का प्रमाण है कि यह भक्ति पद्धति वासना या शृंगार की अश्लीलता से सर्वथा रहित थी और इसमें माधुर्य भाव की प्रधानता होने पर भी तन्मयता और तल्लीनता की चरम उपलब्धि भक्तों को हुई थी।

सारांश यह कि सूर की भक्ति पद्धति का आधार वैष्णव भक्ति पथ होने पर भी उसका प्रासाद निर्माण गोस्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित साम्प्रदायिक (पुष्टिमार्गीय) तत्वों से हुआ था। ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध निरूपण करते हुए सूर ने अग्नि स्फुलिंग (चिनगारी) का उदाहरण दिया और जीव को ब्रह्म का अंश ठहराया। जीव अपने को ब्रह्म के चरणों में समर्पित करके ही लोक के प्रलोभनों से मुक्त हो सकता है। जीव के विकास की चार अवस्थाओं का वर्णन करते हुए आचार्य ने बताया है कि प्रवाहमार्गी, मर्यादामार्गी, पुष्टिमार्गी और शुद्धपुष्ट, इन चार कोटियों में लेकर ही जीव चलता है। इसी के आधार पर पुष्टि भक्ति को भी चार रूपों में बताया है। प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि-पुष्टि, और शुद्ध पुष्टि। अन्तिम शुद्ध पुष्टि की स्थिति प्राप्त कर के जीव परमानन्द में लीन होता है। सूर ने इन चारों प्रकार की पुष्टियों का वर्णन अपने पदों में किया है। किन्तु मूल रूप से उनकी अन्तःचेतना में शुद्ध पुष्टि का ही स्वरूप भासित हुआ है।

जिस सूर ने 'अविगत गति कछू कहत न आवे। ज्यों गूंगे मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै' कहकर प्रभु का स्वरूप चिन्तन करना प्रारम्भ किया था, उसी ने 'अति सुन्दर नंद महरि ढटौना। निरखि निरखि ब्रज नारि कहहिं सब यह जानत कछु टौना' कहकर श्रीकृष्ण का रूप अपनी भक्ति भावना से न केवल स्वयं देखा किन्तु ब्रज नारियों को भी उसका दर्शन कराया।

: ५ :

सूरदास और श्रृंगार

डा० सत्येन्द्र

यह सर्वमान्य है कि सूरदास भक्त हैं, उनकी भक्ति भावना ने ही काव्यमय शरीर धारण किया और 'सूरसागर' जैसी अनूठी कृति हिन्दी साहित्य को ही नहीं विश्वसाहित्य को मिल सकी। सूरसागर की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें श्रृंगार रस की विश्वपरक भावभूमि को भक्ति की उच्चतम भव्यता से अभिमंडित कर दिया गया है। श्रृंगार रस का रति भाव विश्व-भर के साहित्य का प्राण है, पर भारत में कृष्ण सम्प्रदाय के अतिरिक्त विश्व में अन्यत्र कहीं इसको सौम्य और भव्य (सब्लीमेट) करने की ऐसी चेष्टा नहीं की गई। अन्यत्र प्रेम में दिव्यता लाने की चेष्टा की गई है, अस्थि-चर्म के इस विकार को पवित्रता और पावनता शरीरी धर्म के स्वरूप में ही देने के प्रयत्न भी हुए हैं, पर उसे आध्यात्मिक स्तर पर कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया जा सका। यह सूर ने किया।

भक्ति रस शास्त्र में साधारणतः उत्तम भक्ति तीन प्रकार की मानी गई है : साधना भक्ति, भावना भक्ति तथा प्रेम भक्ति। साधना भक्ति के दो भेद होत हैं—वैधी और रागानुगा। वैष्णव धर्म के प्रभाव से भक्ति ने इतनी प्रबलता प्राप्त की कि जो 'भक्ति' भरत मुनि के समय में 'शान्त रस' के अन्तर्गत समाविष्ट थी, जिसे ग्यारहवीं शताब्दी में मम्मट ने 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः।' (काव्यप्रकाश ४।३५) कहकर केवल 'देवादिविषयक रति' मात्र 'भाव' माना, वही सोलहवीं शताब्दी में 'रस' का स्थान पा सकी और उस पर अनेक शास्त्र रचे गए। इसी भक्ति में हमें साधना से भावना, और भावना से प्रेमा की उत्कृष्टता विदित होती है। साधना भक्ति में भौतिक अनुष्ठानों का प्राधान्य रहता है, भावना में भौतिक अनुष्ठान तो शून्य हो जाते हैं, पर भावना सम्बन्धी अनुष्ठान अवश्य होते हैं। जो विधियां कर्मकाण्ड से साधना भक्ति के लिए की जाती हैं, वे ही मानसिक भक्ति में भावना द्वारा सम्पन्न की जाती हैं, किन्तु प्रेमा भक्ति में ऐसे किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती। एक मात्र 'प्रेम' की ही मान्यता हो जाती है—

प्रेम प्रेम ते होई, प्रेम ते पारहिं पइए।
प्रेम बंध्यौ संसार, प्रेम परमारथ लहिए, ।।
एकै निश्चय प्रेम कौ जीवनमुक्ति रसाल।
सांचौ निश्चय प्रेम को जहिरें मिलें गोपाल ।।

इस प्रकार इस प्रेमा भक्ति में साध्य और साधन अभेद हो जाता है। यह महत्तम स्थिति और किसी भक्ति में प्राप्त नहीं हो पाती। सूर ने इसी प्रेमा भक्ति को सूरसागर के द्वारा प्रस्तुत किया। प्रेम की और प्रेमा भक्ति की दुहाई कबीर ने भी दी :

कहै कबीर जन भए खाला से
प्रेम भगति जिन जानी।

किन्तु कबीर का यह प्रेम 'निराधार' का प्रेम था। जायसी ने भी 'प्रेम की पीर' की व्याख्या की, पर इन्होंने भी सांसारिक प्रेम से जी चुराया, और आध्यात्मिक प्रम की बात कही। किन्तु सूरदास जी ने 'प्रेम' की न तो सांसारिक रूप की ही अप्रतिष्ठा की न आध्यात्मिक रूप की ही। उन्होंने ही वस्तुतः भक्ति को 'रस' स्थिति तक पहुंचाया, क्योंकि उन्होंने शृंगार और भक्ति को अभिन्न कर दिया।

कृष्ण उनके अवलम्ब थे। य कृष्ण स्वयं ब्रह्म थे, ब्रह्म के अवतार नहीं। और यह साकार सशरीर कृष्ण ही ब्रह्म थे, महत्तम साध्य। उद्धव से गोपियां पूछती हैं :

ह्यां तुम कहत कौन की बातें ?
सुन ऊधौ हम समुझत नाहीं फिरि बूझति हैं तातें।

यों तो वे गोपियां यह भी नहीं समझतीं कि :

को नृप भयो ?
कंस किन मारयौ ?
को वसुदेव सुत आहि ?

किन्तु सबसे अधिक कठिनाई तो यह है कि वे नहीं जानतीं कि :

को अविनासी अगम अगोचर ?
को विधि वेद अपार ?

वे स्पष्ट कहती हैं कि :

यह इहि गांउ न समुझत कोऊ कैसो निर्गुण होत ?

यहां निर्गुण को कोई भी नहीं जानता ? तभी वे पूछ बैठती हैं :

निर्गुण कौन देस को बासी ?

पूछना ही नहीं वे उद्धव से निस्संकोच कहती हैं—'सुनिहैं कथा कौन निर्गुण की रचि रचि बात वनावत' क्योंकि 'सगुन सुमेरु प्रकट देखियत तुम तृण की ओट दुरावत'। यह 'सगुन सुमेरु' जिसे गोपियां 'प्रकट' देखती हैं 'यशोदा सुत नन्द-कुमार' के अतिरिक्त और कौन है :

ह्यां यशुदासुत परम मनोहर जीवतु है मुख चाहि।
नित प्रति जात धेनु वन चारन गोप सखन के संग।

सूर की ये धारणाएं जो गोपियों के मुख से निकली हैं निर्गुण का निवारण कर देती हैं, ब्रह्म और यशोदा सुत नन्दकुमार कृष्ण एक हो जाते हैं—और राधा-कृष्ण का और कृष्ण-गोपियों का प्रेम भक्ति से ओत-प्रोत रहता हुआ भी शृंगार रस की रति का पर्याय हो जाता है। इस प्रकार 'भक्ति' का शृंगार रस से कोई भिन्न स्वरूप शेष नहीं रहता। यही कारण है कि सूर के शृंगार रस में रति स्थायी भाव का पूर्ण और अलौकिक परिपाक हुआ है।

शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है। सूरदास ने इस 'रति' को 'भाव' की कोटि में जाने से बचाने के लिए अपनी रचना में दाम्पत्य रति स्त्री-पुरुष की रति का ही प्रतिपादन किया है, उसी का विकास प्रस्तुत किया है।

इस रति के नायक कृष्ण हैं और नायिका राधा तथा गोपियां। किन्तु क्या गोपियां वस्तुतः नायिकाएं हैं ? राधा और गोपियों की कहानी अलग-अलग है। गोपियों ने कृष्ण को उनके जन्म के समय से ही अपने बीच में पाया है, उनका प्रेम उनमें वात्सल्य से शृंगार की ओर अग्रसर हुआ है—दान लीला प्रकरण में गोपियां कहती हैं :

नन्द सुवन यह बात कहावत
आपुन जीवन दान लत हैं तापर जोइ-सोइ सखन सिखावत।
वे दिन भूलि गए हरि तुमको चोरी माखन खाते—

वात्सल्य से शृंगार में परिणति पाने वाले इस प्रेम का आश्रय जिन गोपियों में है वे सब विवाहिता हैं, परनारी हैं। वे कृष्ण की भर्त्सना भी इसी अवसर पर इन शब्दों में करती हैं :

सखा लिए तुम घेरत पुनि पुनि बन भीतर सब नारि पराई।

अतः गोपियों में 'परकीयात्व' के साथ कृष्ण-पातिव्रत्य है। कृष्ण गोपियों को वताते हैं :

तुम पति कियौ मोहि को मन दे, मैं हौं अन्तर्यामी।

यह वात भी ध्यान में रखने की है कि गोपियां कृष्ण से उम्र में बड़ी हैं। वे कृष्ण का ध्यान उनकी उम्र की ओर भी आकर्षित करती हैं :

कहा भए अति ढीठ कन्हाई ।

ऐसी बात कहत सकुचत नहिं, कहधौं अपनी लाज गंवाई ।

बहुत होहुगे दसहि बरस के बात कहत हौ बनै बनाई ।

कृष्ण नायक गोपी समूह से इस प्रकार दान मांग रहे हैं । नायक एक, और नायिकाएं संख्या में इतनी ! यह स्थिति श्रृंगार रस के लिए कुछ अटपटी है । यद्यपि सूरदास ने कृष्ण की अलौकिकता का किंचित सहारा लेकर गोपी कृष्ण की इस रति को भी पूर्णतः फलित सिद्ध किया है—पहले मानसिक क्षेत्र में :

अन्तर्यामी जानि लई ।

मन में मिले सबनि सुख दीन्हों तब तनु की कछु सुरति भई ।

और तब शरीर के क्षेत्र में । इस समस्त परिपाक से भी श्रृंगार रस के रति भाव में आवश्यक यथार्थ चमत्कार उत्पन्न नहीं होता । रति सौष्ठव बिखर जाता है, किन्तु गोपियों के इस प्रेम को सूरदास यों ही छोड़ नहीं सकते । 'चीर हरण' से जिस रति भाव का गोपी-कृष्ण में आरम्भ होता है, संयोग श्रृंगार में वह रास लीला में पराकाष्ठा पर पहुंचता है । दान लीला में कृष्ण इस चीर हरण का उल्लेख कर गोपियों के उनके मूल मनोभाव की उद्दीप्ति कर देते हैं :

सबै रहीं जल मांझ उघारी ।

कैसे हास भए तब सब के सो तुम सुरति बिसारी ।

इस घटना के स्मरण का गोपियों पर यथोचित प्रभाव पड़ता है, और दान लीला सम्पन्न हो जाने पर गोपियां सुख का अनुभव करती हुई सोचती हैं :

जो हम साध करति अपने मन सो सुख पायो नीके ।

दान लीला और पनघट लीला में संयोग श्रृंगार का शरीर विलास आरम्भ होता है । मन और शरीर के इस आदान-प्रदान में मुरली न केवल 'दूती' का कार्य करती है, वरन उद्दीपन का कार्य भी करती है ।

इस विधि से मन के साथ शरीर कृष्ण के अर्पण हुआ, मुरली ने मन और शरीर में एक अनोखी उमंग भर दी, मन नाचने लगा, तो शरीर विना नृत्य किए कैसे रहे ? नृत्य शरीरावयवी कला-विलास का श्रेष्ठतम और उच्चतम रूप है—इसी नृत्य की परिणति रास में हुई ।

गोपियों के प्रेम अथवा रति भाव की रास में परिणति हुए विना कृष्ण-गोपी भाव की उपलब्धि पूर्ण नहीं हो सकती थी । गोपियों के इस व्यवहार में ही तो प्रेम की 'अमर्यादा' का वास्तविक संदेश है—मुरली ध्वनि में सुधि बिसरा कर सर्वस्व समर्पण के लिए सन्नद्ध गोपिकाएं जब कृष्ण के पास विह्वल आ पहुंचीं तो कृष्ण ने उन्हें मर्यादा का उपदेश दिया :

यह युवतिन कौ धर्म न होई।

धृत सो नारि पुरुष जो त्यागें ।

किन्तु गोपियां तो मर्यादा त्याग चुकी थीं । तब कृष्ण ने उनकी यथार्थ महानता प्रकट की :

श्याम हंसि बोले प्रभुता डारि।

तुम सन्मुख मैं विमुख तुम्हारौ मैं असाध तुम साध ।

गोपियों के इस शृंगार रस प्रतिपादन का महत्व इसी 'अमर्यादा' की स्थापना की दृष्टि से है । किन्तु शृंगार रस की उत्कृष्टता एक नायक के अवलम्ब आश्रय और एक नायिका के आश्रय अवलम्ब में जितनी उभरती है, उतनी उस स्थिति में नहीं जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, अतः सूरदास जी ने 'राधा' की उद्भावना की और 'राधा' के प्रेम और रति के लिए गोपिकाओं की इस समस्त शृंगार रस लीला को पृष्ठभूमि का रूप दे डाला । सूरदास इस देन में एकदम महान और अन्यतम हो गए । गोपियों की इस पृष्ठभूमि में राधा का प्रेम अनोखे ढंग से अंकुरित, पल्लवित और फलित हुआ है । गोपियों के प्रेमसागर के मन्थन में से जैसे राधा प्रेम रस रूपी लक्ष्मी की भांति अवतीर्ण हुई दीखती है ।

राधा अनायास ही ब्रज की गलियों में आ जाती हैं, कृष्ण की उन पर दृष्टि पड़ती है और कृष्ण उन पर रीझ जाते हैं :

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।

गए स्याम रवितनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी ।

औचक ही देखी तहां राधा नयन विशाल, भाल दिए रोरी ।

नील वसन, फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुचिर झकझोरी ।

संग लरिकिनी चलि इति आवति दिन थोरी अति छवि तन गोरी।

सूर श्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिली परी ठगौरी ।

तब कृष्ण ने राधा से पूछा :

बूझत स्याम कौन तू गोरी ?

कहाँ रहति ? काकी है बेटी ? देखी नहीं कबहुं ब्रज खोरी ?

तो राधा उत्तर देती है :

काहे को हम ब्रजतन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी ।

सुनति रहति श्रवणनि नन्द ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी ।

इस 'माखन दधि चोरी' की मार्मिक चोट से मर्माहत कृष्ण बड़ी युक्ति से राधा से कहते हैं :

तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी ।

और इस प्रथम संभाषण और मिलन के उपरान्त तो भोरी राधिका और भोरे कृष्ण श्रृंगार लीला में दक्ष हो गये। "प्रथम सनेह दुहुंन मन जीत्यो" यह प्रथम स्नेह धीरे-धीरे प्रगाढ़ और गूढ़ होता गया।

राधा का यह प्रेम स्वकीयात्व प्रेम है, और अन्त में रासलीला के उपरान्त राधा-कृष्ण विवाह में सफल होता है। संयोग का पूर्ण सुख रास-रतिक्रीड़ा में सोलहों कलाओं में जगमगा उठता है।

श्रृंगार रस की भावना का उदय वात्सल्य के सहारे कराके उसकी रति की भूमि को अनोखा रंग इस कवि ने प्रदान कर दिया है। वयसंधि की जो झिलमिलाहट नायक अथवा नायिका में धूप-छांह की भांति दिखाई पड़ती है, वही 'वात्सल्य' और 'श्रृंगार' तथा 'लरिकाई' और 'तरुनाई' की झिलमिलाहट सूर ने अपने श्रृंगार रस के आरम्भ में प्रविष्ट कर दी है। सकुचना, झिझकना, अर्द्धस्फुट, आवृत्त-अनावृत्त कृष्ण-गोपी और राधा का यह रति भाव उग्र, उदग्र और उद्दाम हो जाता है, और 'लोकलाज, कुल-कानि तथा मर्यादा' के बंधनों को तोड़कर प्रवाहित हो उठता है। संयोग श्रृंगार के इस परिपाक में आरम्भ चांचल्य से करके अन्त रास की अनन्त गंभीर राशि में होता है।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस अमर्यादित गोपी प्रेम की पृष्ठभूमि में उदित राधा-कृष्ण का वह अनन्य स्वकीया प्रेम जहां संयोग श्रृंगार का संदेश है, वहां संयोग के उपरान्त होने वाले विरह का वर्णन, अपनी सूक्ष्म-वर्णना के साथ रस का आनन्द प्रदान करता हुआ सगुण और निर्गुण के द्वंद्व को उपस्थित कर सगुण की विजय घोषित करता है।

वास्तविक बात यह है कि बिना विरह के श्रृंगार रसान्तर्गत संयोग का न तो पूर्ण आस्वाद ही मिलता है न उसका मूल्य ही आंका जा सकता है। 'रति' की आध्यात्मिक परिणति वियोग विरह के द्वारा ही होती है। राधा और गोपी का विरह अनन्त होना चाहिए, और अनन्त ही है, पर सूर ने श्रृंगार रस की भारतीय उपलब्धि के मार्ग को उच्छिन्न नहीं होने दिया, परकीया की भूमि पर स्वकीया की मधुर भव्य मूर्त्ति की स्थापना करके श्रृंगार रस की अमर्यादा की आंतरिक मर्यादा पर जहां उन्होंने अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाए हैं, वहीं अनन्त विरह की आन्तरिक भावभूमि की स्थिरता दिखाते हुए प्रतीक वन अन्तिम राधा-कृष्ण मिलन का दृश्य अंकित करके अपनी काव्य कला के भाव सौन्दर्य को स्वर्ण मुकुट से अभिषिक्त कर दिया है।

इस प्रकार श्रृंगार रस की इस प्रेममयी अवतारणा का कवि ने यवनिका-पात कराया। पाठक ने कृष्ण-गोपी और राधा-कृष्ण की 'रति' के भाव पर परि-पक्व इस श्रृंगार रस का आस्वाद भक्त की भांति किया। श्रृंगार के संयोग और

वियोग दोनों पक्षों से सम्बन्ध रखने वाली समस्त दशाओं, अवस्थाओं, स्थितियों में होकर उसका मन गया, कृष्ण और गोपी तथा राधा-कृष्ण के अन्तर्मन के समस्त उद्वेलनों को उसने देखा, उनकी बाह्य अभिव्यंजनाओं में होकर भी उसने मार्ग निकाला और अन्त में श्रृंगार रस की अनन्त शक्ति से उसका मन तपकर कंचन की भांति जगमगाता हुआ भक्ति भाव की पवित्रता से अभिमंडित हो गया ।

सूरदास नियोजित इस श्रृंगार रस के नियोजन को न तो कृष्ण का परिणाम कहा जा सकता है, न उसमें रेचन (कैथारसिस) का भाव है, वह किसी भी पदार्थ भाव से व्याख्या का विषय नहीं बन सकता । सूर के इस श्रृंगार रस के प्रतिपादन का एक ही मूल रहस्य विदित होता है कि इस महाकवि ने इस रस की मौलिकता, महानता और पावनता की जो अनुभूति प्राप्त की, उसी का साक्षात्कार स्थूल शरीरी-सौन्दर्य को काव्य शक्ति से विदीर्ण करके गहन पैठ द्वारा करा दिया । यह काम भाव जो प्रपंचपूर्ण जगत में इतना प्रबल प्रतीत होता है और इतनी विगर्हणा का विषय बना हुआ है कि भारत में वैराग्य प्रवृत्ति ने जन-जन के मानस को आक्रांत कर रखा है, वह काम भाव मूलतः क्या प्रकृति और प्रपंच अथवा जगन्मिथ्या का परिणाम है ? "नहीं", सूर कहते हैं, "इसके मूल में ब्राह्मी पावकता है । जो उसके मर्म को समझ लेता है, उसका रति भाव विकार शुद्ध काम भाव में परिणति पाकर भक्ति अथवा ब्रह्म की इच्छा को ब्रह्म में समर्पित कर देने वाला हो जाता है ।"

M48MofI&B—2,000—13-12-58—GIPF.

हिन्दी साहित्य के दो अनमोल ग्रंथ

१. वैदिक साहित्य

अपने देश की संस्कृति को समझने के लिए इसके मूल को जानना आवश्यक है। भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है और उसकी प्रेरणा का एक बड़ा स्रोत वैदिक साहित्य है। यह साहित्य बहुत विस्तृत है और ऐसी भाषा में लिखा हुआ है जो इस देश में आजकल बहुत कम बोली जाती है। इसको सर्वजनसुलभ बनाने के लिए जिससे इस देश के नागरिक अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की झांकी पा सकें 'आकाशवाणी' के दिल्ली केन्द्र से प्रसारित ६ वार्ताओं को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

मूल्य--केवल ३५ नये पैसे, डाक व्यय अलग।

२. हिन्दी साहित्य की नवीन धाराएं

हिन्दी के प्राचीन साहित्य पर बहुत सी पुस्तकें हैं किन्तु हिन्दी के नवीन साहित्य पर आलोचना ग्रन्थ नहीं के बराबर हैं। इस कमी को दूर करने के लिए हिन्दी के चार मूर्द्धन्य लेखकों के चार वक्तव्य पुस्तकाकार प्रकाशित किए गए हैं। सर्वश्री विष्णु प्रभाकर, डा० नगेन्द्र, पण्डित उदयशंकर भट्ट और श्री रामचन्द्र तिवारी ने क्रमशः हिन्दी कहानी, हिन्दी कविता, हिन्दी नाटक और हिन्दी उपन्यास पर अपने वक्तव्य दिए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह पुस्तक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

मूल्य—केवल ३५ नये पैसे, डाक व्यय अलग।

सब पुस्तक-विक्रेताओं के यहां मिल सकती हैं।

अथवा

पब्लिकेशन्स डिवीज़न,

ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८ को लिखें।

स्थायी महत्व की पुस्तकें

	मूल्य रु० नये पैसे	डाक व्यय
रूसी-हिन्दी शब्दकोश—वीर राजेन्द्र ऋषि	३५.००	—
भारत के पक्षी—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह	१२.५०	१.५०
राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के भाषण—१९५२–५६	३.५०	०.८५
स्वाधीनता और उसके बाद (जवाहरलाल नेहरू के भाषण १९४–९४९)	५.००	१.३५
भारतीय कविता—१९५३	५.००	१.७५
अठारह सौ सत्तावन—डा० सुरेन्द्रनाथ सेन	४.५०	०.८५
भारत की एकता का निर्माण (सरदार पटेल के भाषण)	५.००	१.३०
बौद्धधर्म के २५०० वर्ष	३.००	०.४५
कर जांच आयोग के प्रतिवेदन का संक्षिप्त सार	२.५०	०.७५
भारतीय वास्तुकला के ५००० वर्ष	२.००	०.२५
दसवां वर्ष	१.५०	०.५०
अशोक के धर्मलेख	१.००	०.२५

(रजिस्ट्री खर्च अलग)

पच्चीस रुपए या इससे अधिक की पुस्तकों पर डाक व्यय नहीं लिया जाएगा।

सभी प्रमुख पुस्तक विक्रेताओं से प्राप्य या निम्न पते पर सीधा लिखें :

पब्लिकेशन्स डिवीजन

पो० बॉ० नं० २०११, ओल्ड सेक्रेटेरियट

दिल्ली – ८

पब्लिकेशन्स डिवीजन
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार